श्रीजैनेन्द्रकुमार

प्रश्नोत्तर : अपरिग्रह

प्रश्नकार—कुमार सत्यदर्शी

प्रश्न—आपकी परिभाषा के अनुसार परिग्रह क्या है ?

उत्तर—जो हमारी अन्तश्चेतना को पकड़े और रोके, उस वस्तु रूप बाधा को परिग्रह कह सकते हैं.

प्र०—अन्तश्चेतना आप किसे कहते है ?

उ०—आदमी निश्चेतन तो है नहीं, और यदि चेतन है तो उसके चैतन्य का अधिष्ठान उससे बाहर कैसे माना जा सकता है ? 'अन्तश्चेतना' इसलिए कहा है कि चेतना के अनेक स्तर होते हैं. अपने ही स्रोत से स्फूर्त हो, प्रतिक्रियात्मक न हो, इसलिए 'अन्तस्' का विशेषण है.

प्र०—क्या आप बाह्य और आन्तरिक परिग्रह के भेद भी मानते हैं ?

उ०—भाव और द्रव्य का भेद मानने से समझ को सुभीता होता है. पर सार सदा आन्तरिक है. अर्थात् परिग्रह को मूर्छा-भाव में मानना अधिक सार्थक होगा.

प्र०—गृह-परिवार में रहकर भी आप अपने को मूर्छा-स्वरूप परिग्रह से रहित मानते हैं ?

उ०—नहीं. मैं अपरिग्रह का विश्वासी हूँ, अपरिग्रही पूरा नहीं. लेकिन यह इस मकान के निमित्त से नहीं. जंगल में बैठा रहूं तो भी अन्दर से तृष्णार्त्त हुआ तो जंगल मेरी मदद नहीं कर पायेगा. पशु तो वहाँ ही रहता है, क्या वह अपरिग्रही है ?

प्र०—अपरिग्रही होने के लिए वस्तु का त्याग अपेक्षित नहीं है, तो अतीत में जो ऋषि-मुनि हुए हैं, उन्होंने जागतिक वस्तुओं से नाता तोड़ कर एकान्त में रहना पसन्द किया था, क्या उनके लिए ऐसा करना अनिवार्य नहीं था ?

उ०—त्याग-तपस्या में बाहुबली की कौन समता कर सकता है ? लेकिन मुक्ति उन्हें नहीं मिली, जब तक अन्दर में शल्य बनी रही.

वस्तु का नितान्त परिहार हो नहीं सकता. वस्तु अपनी जगह है, उसका नाश संभव नहीं . वस्तु से अगर हम अपने को बचाते हैं तो आखिर किस लिए ? इसीलिए न कि वस्तु हम पर हावी न हो. और हमारी आत्मता को न ढंके इस कोण से देखें तो वस्तु को लेने अथवा छोड़ देने, इन दोनों ही दृष्टियों में वस्तु को प्रधानता मिल जाती है. इसलिए त्याग-तपस्या में अपने आप में कोई मुक्ति समाविष्ट नहीं है. वस्तु की निर्भरता से ऊपर उठने की दृष्टि से अमुक साधना या अभ्यास किया जा सकता है. लेकिन अभ्यास साधना है, साध्य नहीं है.

अपरिग्रह का नितान्त शुद्ध रूप है कैवल्य. कैवल्य की स्थिति पर तीर्थंकर के लिए समवमरण की रचना हो जाती है. समवसरण के ऐश्वर्य का क्या ठिकाना है ! लेकिन क्या उससे तीर्थंकर के कैवल्य में कोई त्रुटि पड़ती है ? या अपरिग्रह पर कोई विकार आता है ?

व्यक्ति और वस्तु के बीच सर्वथा असम्बद्धता नहीं हो सकती. सारा जगत् सामने पड़ा है, क्या अपरिग्रही उसको देखने से इंकार करेगा ? देखना भी एक प्रकार का सम्बन्ध है. दृष्टि सम्यक् वह नहीं हैं. जो वस्तु-मय जगत् को देख

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं पाती, सम्यक् दृष्टि वह है जो वस्तु में रुकती नहीं है. जो रुक सकती है वही दृष्टि वस्तु से विमुख होने की सोच सकती है, यह विज्ञान सिद्ध दृष्टि नहीं कहलायेगी, बल्कि सीधे या उल्टे अर्थ में विमूढ दृष्टि समझी जायेगी. वस्तु और व्यक्ति के बीच समीचीन सम्बन्ध को सिद्ध करने वाला होता है—अपरिग्रह. वस्तु के डर से व्यक्ति को हीन और रहित बनाना उसका इष्ट नहीं है.

सामने वह दीन और दरिद्र है, वस्तु के नाम पर उसके आस-पास अभाव ही अभाव है, क्या आप उसको अपरिग्रही कह सकेंगे ? नहीं, उसको दीन और दरिद्र इसलिए कहना होता है कि बाहरी अभाव के कारण उसका मन वस्तु के प्रति और भी ग्रस्त और लुब्ध होता है, ऊपर से नितान्त नग्न होते हुये भी वह भीतर से कातर और लोलुप हो सकता है. अपरिग्रह में वस्तु का लोभ व भय भी समाप्त हो जाता है. आत्म-चेतना सर्वथा स्वयं निर्भर हो जाती है. उसमें से वस्तु के प्रति एक विभुता और इसलिए निश्चिन्तता प्राप्त होती है, अधीनता और चिन्ता नहीं. दूसरे शब्दों में अपरिग्रह अभावात्मक नहीं, सद्भावात्मक भाव है, अर्थात् अपरिग्रह में वस्तु के प्रति रुष्ट विमुखता नहीं होती, बल्कि प्रसन्न मुक्तता होती है. वस्तु की अपेक्षा में जो अपने को दीन अनुभव करता है वह कभी अपरिग्रही नहीं हो सकता. अपरिग्रही तो वह है जो आत्म सम्पन्नता में भरपूर हो.

प्र०—मनुष्य का कार्य वस्तु के द्वारा सम्पन्न होता है अर्थात् दैनिक कार्य चलाने के लिए वस्तु की आवश्यकता होती है. आवश्यकता है तो प्रयत्न भी करने होंगे. क्या उस प्रयत्न को दीनता कहा जा सकता है ?

उ०—हाँ, समग्र दृष्टि यदि वस्तु में घिरी हो और प्रयत्न उसी पर केन्द्रित हो तो दैन्यभाव माना जायेगा.

सांस हम अनायास लेते हैं. उसके लिए प्रयत्न करना पड़ता है तब सांस का रोग कहलाता है. प्राणवायु तो चहुं ओर है, लेकिन जब उसे भीतर लेने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है तो मानना चाहिए कि स्वास्थ्य निर्बल है और फेफड़े निरोग नहीं हैं.

अन्तश्चैतन्य से युक्त और प्रवृत्त व्यक्ति की आवश्यकताएं अनायास पूर्ण हो जाती हैं, प्रयत्न-हीनता में से पूर्ण नहीं होती, केवल वह पुरुषार्थ वस्तु-मुखी नहीं होता है, चित्प्रेरित और चिन्मुख होता है. लाख प्रयत्न करने पर भी कोई इतना वस्तु-वैभव नहीं पा सकता कि समवसरण की रचना कर सके. वही तीर्थंकर के लिये अनायास प्रस्तुत हो जाता है. यह महिमा प्रयत्न की नहीं है, अपरिग्रह की है. मैं नहीं मानता कि आत्मचैतन्य में से जगत् का लाभ नहीं होता है. उस जगत्-लाभ या अर्थलाभ में यदि कुछ बाधा बनता है तो चीजों पर मुट्ठी को बांधने का लोभ बाधा बनता है, अन्यथा जो सर्वथा अपनी आत्मा को पा लेता है, सारा ही वस्तुजगत् उसका अपना हो जाता है. त्यागने भागने की कहीं जरूरत ही नहीं रह जाती है.

प्रश्न—समवसरण के प्रसंग में आपने जो कुछ कहा वह ठीक है. तीर्थंकर को उसके लिये कोई प्रयत्न नहीं करना होता. सुना जाता है कि देवगण ही समवसरण की रचना करते हैं. परन्तु तीर्थंकर के आदेश का उल्लंघन कौन कर सकता है ? तब क्या वे देवताओं को समवसरण की रचना करने से इन्कार नहीं कर सकते थे ? जबकि समवसरण रचने में आडम्बर प्रत्यक्ष ही है.

उत्तर—कैवल्य प्राप्त होने से पहले साधक अवस्था में वैसा वर्जनभाव रहा ही होगा. वह आवश्यकता कैवल्य-लाभ के अनंतर यदि निश्शेष हो जाती हो तो विशेष विस्मय की बात नहीं है.

प्रश्न यहां यह नहीं है कि क्या तीर्थंकर को समवसरण की रचना से देवताओं को वर्जित नहीं कर देना चाहिये था ? प्रश्न अपरिग्रह का है और इस उदाहरण के उल्लेख से जो मैं व्यक्त करना चाहता हूं वह इतना ही कि अपरिग्रह में से अनायास वस्तु की विभुता का लाभ हो आता है. मुक्तता उस विभुता का ही रूप है, और अपरिग्रह सच्चे अर्थ में कोई अभावात्मक संज्ञा नहीं है.

मान लीजिए कि तीर्थंकर समवसरण के निर्माण को अपने लिये अस्वीकार कर देते हैं तो उससे यही तो सिद्ध होता है

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कि विभुता और भी बढ़ी-चढ़ी है. और उनका अन्तरंग इस विभूति-भाव से सर्वथा प्रकाशित और वस्तुनिरपेक्ष है. हम जब अपरिग्रह को वस्तु के परिमाण के हिसाब से नापते हैं तो कहना चाहिए कि आत्मा का मूल्य वस्तु की अपेक्षा में आंकते हैं. पांच लाख का किसी ने मकान छोड़ा तो मानो पांच लाख अंकों की अपरिग्रहता प्राप्त कर ली. अपरिग्रह की इस आंकिक उपलब्धि के लिये जो वस्तु का त्याग जाहिर किया जाता है, हो सकता है वह अन्दर से यश-प्रतिष्ठा के परिग्रह का लोभ ही हो. वस्तु से जब हम अहम् भाव से जुड़े होते हैं तभी हम उसके वर्जन और त्यजन की भाषा में बात किया करते हैं. वस्तु के साथ सम्बन्ध मिथ्या-दृष्टि का न हो, यदि सम्यक्-दृष्टि का हो जाये तो वर्जन-तर्जन की दोनों भाषाएं एक-सी विसंगत हो जायेगी. मुक्ति में भी कहीं त्याग की संगति रह जाती है ? सीढी के हर डण्डे को छोड़ना पड़ता है, जब तक सीड़ी है. छत पर आगए तब छोड़ने को रह क्या जायेगा ?

प्रश्न—कैवल्य प्राप्त होने के पश्चात् महावीर ने तीर्थ की स्थापना कर प्रवृत्ति कर्म का परिचय दिया था. जब पूर्णत्व प्राप्त हो गया तब प्रवृत्ति की आवश्कता उन्हें क्यों पड़ी ? समाज सुधार के अन्य प्रयत्न वे अपने साधनाकाल के साड़े बारह वर्षों में भी कर सकते थे. तीर्थंकरत्व प्राप्त होने के पश्चात् वे प्रवृत्ति के प्रपंच में क्यों पड़े? यदि निवृत्तिके पश्चात् प्रवृत्ति का क्रम हो तो राजकुमार वर्द्धमान ही क्या, प्रत्येक मनुष्य का कर्म प्रवृत्ति में है ही. पहले निवृत्ति और फिर प्रवृत्ति; इससे अच्छा तो यही न है कि वह जो प्रवृत्ति करता है, करता चला जाये, क्योंकि निवृत्ति-साधना कर लेने के पश्चात् भी अन्ततः प्रत्येक साधक को प्रवृत्ति करनी पड़ती है इससे अच्छा तो यही है कि वह निवृत्ति के शून्यवाद में ही न भटके.

उत्तर—निवृत्ति-प्रवृत्ति के शब्दों की जोड़ी को आप अपने लिये वृथा झमेला न बनायें. निवृत्ति जिसके अंतरंग में नहीं वह प्रवृत्ति उतनी ही चंचल और निष्फल होती है. मैं इन दोनों शब्दों को परस्पर विरोध में नहीं देखता हूं, पहले पीछे की भाषा भी मुझे कुछ विशेष संगत मालूम नहीं होती है. बाद में यदि प्रवृत्ति आ गई हो तो शुरु में ही निवृत्ति क्यों ? यह आपका प्रश्न इस भ्रम में से बनता है कि ये दोनों परस्पर को काटने वाली संज्ञायें हैं और एक समय में एक ही हो सकती है. वस्तुतः ऐसा नहीं है. दुख की अनुभूति सब में है. इस अनुभूति को निवृत्तिपरक माना जायेगा. अब इसी व्यथा-नुभूति में से प्रवृत्ति निकलती है. जितनी वह अपने निवृत्तिस्रोत से संयुक्त होगी उतनी ही वह प्रवृत्ति फलदायक होगी. निवृत्तिमय प्रवृत्ति मुक्तिदायक हो सकती है, और जितना उनमें वैमुख्य और वैपरीत्य होगा उतनी ही बंधनकारक. अपरिग्रही, अहिंसक, अनासक्त कर्म-संयुक्त होता है. जो जितना वियुक्त है, अर्थात् आत्मव्यथा के स्वीकार में से नहीं बल्कि अहंकृत इंकार में से निकलता है वह उतना ही आसक्त ह्रस्व और व्यर्थ होता जाता है.

तीर्थंकर की प्रवृत्ति शायद फल न लाती अगर उन्हें अन्तरंग में निवृत्ति ही सिद्ध न हुई होती. यज्ञ-हिंसा के विरोध में कहीं उनका अहंभाव मिला होता तो क्या उसका उतना फल आ सकता था ? भीतर से निवृत्त हो गये, शुद्ध करुणा की प्रेरणा में से शब्द और कर्म उत्कृष्ट हुए इसी से परिणाम भी आसका होगा. अन्यथा ऊपर से की जाने वाली प्रवृत्ति केवल अस्थिरता का दूसरा रूप हो जाता है. उसमें तेजस्विता और अमोघता नहीं आती.

प्रश्न—परार्थमूलक प्रवृत्ति का अर्थ क्या है ? परार्थमूलक प्रवृत्ति के द्वारा यदि उद्देश्य की उपलब्धि होती है तो वह भी एक स्वार्थ-प्रवृत्ति है. स्वार्थमूलक प्रवृत्ति यदि एकान्त प्रवृत्ति है तो जब वह परार्थ के लिये होती है तब निवृत्तिमूलक कैसे हो जाती है ?

उत्तर—अब आप स्व-पर शब्द की जोड़ी के चक्कर में पड़ गये. व्यथा में 'स्व' की सीमा धुल जाती है. इसलिये उस सृजनकर्म से स्व-पर का अभेद सिद्ध होता है. करुणा मूलक और अहम् मूलक प्रवृत्ति में यही अन्तर है. करुणामूलक कर्म में उपकार, उद्धार या रक्षा की दृष्टि अर्थात्-परार्थ-दृष्टि उतनी नहीं होती. स्वार्थ परार्थ के आगे मैं तीसरा शब्द सुझाता हूँ—परमार्थ यहाँ पर भेद मिट जाता है और स्वार्थ-परार्थ का परमार्थ में समन्वय हो जाता है. स्वार्थ अहं-कृत होता है, उसी तरह परार्थ भी अहंकृत हुआ करता है. उपकार अधिकांश उसी भूल के कारण अंत में अपकार बन जाता है. जो चाहिए वह अकर्म है, अर्थात् ऐसा कर्म जिसमें कर्तृत्व न हो. उसी को दूसरे शब्दों में निवृत्ति-मूलक कर्म कह दीजिए. कर्मनिर्जरा कर्महीनता में से नहीं वरन् प्रचण्ड पुरुषार्थ में से ही फलित हो सकती है.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org